**उर्दू का सवाल**

डॉ.जगदीश गुप्त

मध्य देश की सांस्कृतिक चेतना भाषा-वैविध्य को अपने भीतर गहराई से सहेजने और रचनात्मक स्तर पर उसे उत्तरोत्तर विकसित करने की दिशा में निरंतर सक्रिय रही है | ‘षड्भाषा’ की परम्परा इसी भू-भाग में उपजी, बढ़ी और आज भी प्रेरणा देती है | ‘हफ़्तजुबान’ की धारणा भी कुछ इसी तरह की भावना से उत्पन्न हुई होगी, ऐसा माना जा सकता है | भाषा-द्वंद्व का बहुत सा कटु अनुभव भाषिक समाहार की इस प्रक्रिया का कारण रहा होगा |

चलाओ सम्हल कर तेग़े ज़ुबां को,

ज़ुबां के ज़ख्म का मरहम नहीं है |

यह शेर मैंने बरसों पहले, हैदराबाद संग्रहालय के एक प्रदर्शन-कर्ता से सुना था पर आज भी भूल नहीं सका | हिंदी-उर्दू की एकता केवल हिंदी प्रदेश तक सीमित नहीं रही| ‘दक्खिनीहिंदी’ का भी उसमें पर्याप्त योगदान रहा है| आज उर्दू हिंदुस्तान के साथ-साथ पाकिस्तान और कश्मीर का प्रतीक भी बन गयी है| हिंदी उर्दू की अभिन्नता मानकर इस तथ्य को व्यापक एकता का आधार बनाया जा सकता है |

हिंदू और मुसलमान का भेद सूफियों ने भी नहीं माना और उर्दू शायरी सूफियाना रंग में आदि से अंत तक रंगी रही, “कश्का खींचा, देर में बैठा, कबका तर्क-इस्लाम किया” मीर को ऐसा लिखने पर किसी ने फांसी नहीं दी वरन् उनसे दिमागी ताकत ही पायी | ‘गालिब’ ने जब यह लिखा तो उसके मन में ऐसे शव-दाह का बिंब प्रेरणा दे रहा था जो हिंदू के हृदय की पहचान कराता है —

जला है जिस्म जहां दिल भी जल गया होगा

कुरेदते हो ये क्यूं खाक जुस्तजू क्या है ?

और जब चकबस्त ने लिखा—“ बने मजार किसी आबशार के नीचे” तो निश्चय ही वे हिंदू होकर भी मुसलमान के मन में बैठकर अपनी बात कह रहे थे, काव्य-भाषा रचनात्मक स्तर पर प्रतीकात्मक विधि से ऐसी मानसिकता उत्पन्न करने में सक्षम होती है जो अलगाव दूर करके सूक्ष्म स्तरों पर लगाव को बल देती है |

द्विवेदी जी की प्रेरणा से—मैथिलीशरण गुप्त का ब्रजभाषा से खड़ी बोली में आना एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना माना जाता है पर मेरे विचार से प्रेमचंद का आत्म प्रेरणा से उर्दू को छोड़कर हिंदी में आना उससे किसी प्रकार कम महत्व नहीं रखता क्योंकि उनमें उर्दू को समृद्ध करने में किसी प्रकार की क्षमता की कमी नहीं थी | उन्हें तो उनकी दूरदर्शिता ही हिंदी की दिशा में ले गयी | मध्यदेश की आंतरिक प्रकृति और प्रवृत्ति को उन्होंने जिस गहराई से समझा उसने ही उन्हें वह आत्मबल प्रदान किया जो उनकी समस्त हिंदी रचनाओं का सृजन संकल्प बना | मध्यदेश की अंतश्चेतना ने उन्हें विवेक दृष्टि दी कि देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा का माध्यम ही इस हृदय-प्रदेश को आंदोलित करने का सही मार्ग है | उर्दू के पक्षधर प्रगतिशील बंधुओं ने प्रेमचंद से अपने को सच्चे अर्थ में जोड़ा होता तो वे देवनागरी की तुलना में उर्दू-फारसी लिपि को वरियता देने का लगातार उपक्रम न करते | प्रगतिशील आंदोलन की भाषा-नीति शुरू से ही दो फांकों में बंटी रही और तरक्कीपसंद लोग ‘प्रगतिशीलों’ में शामिल होकर ही हिंदी की टांग खींचते रहे | हिंदी अपनी समस्त उपभाषाओं तथा ग्रामीण बोलियों का प्रतिनिधित्व करती है | पर उर्दू केवल खड़ी बोली के उस रूप को जो अरबी-फारसी संस्कृति से जुड़ा रहा, ‘मतरूकात’ का सहारा लेकर उसने अपने को और संकीर्ण कर लिया |

सन् 50 के आसपास इलाहाबाद में भाषा के प्रश्न पर जो द्वंद्व “परिमल” और प्रगतिशीलों के बीच हुआ उसमें राहुल, यशपाल, नागर जी और डॉ. उदय नारायण तिवारी जैसे मार्क्सवादी साहित्यकारों ने “परिमल” का साथ दिया क्योंकि उसने निर्मान्त रूप से हिंदी का पक्ष लिया था | उर्दू का साथ ख्वाज़ा अहमद अब्बास, वामिक और फ़िराक आदि ने दिया | “साहित्य में संयुक्त मोर्चा” अमृतराय द्वारा बहुत कुछ उसी संदर्भ में लिखा गया था | लखनऊ में 1986 में प्रगतिशील आंदोलन के अर्ध-शती-समारोह में उर्दू को दूसरी भाषा बनाने का प्रस्ताव पारित हो जाता यदि अमृतलाल नागर और नामवर सिंह ने उसका दृढ़ता से विरोध न किया होता |

सरकारी पैसे से, सरकारी भाषा-नीति में उर्दू को, बिहार की तरह उत्तर प्रदेश में मान्यता दिलना ही मानो उस समारोह का मुख्य मुद्दा था | सारी गतिविधि उर्दू अदीबों के हाथों में हिंदी-विरोध की भूमिका बन गयी, क्या प्रगतिशील आंदोलन ने पचास सालों में यही प्रगति की ?

आज जब ‘हंस’ प्रेमचंद की परम्परा का निर्वाह करते हुए भाई नामवर सिंह ने एतिहासिक तथ्यों पर आधारित ‘उर्दू का सवाल’ उठाया तो उनकी असहमति प्रगतिशील बुद्धजीवियों के लिए भी एक चुनौती बन गयी है | जिस साहस और समझदारी के साथ उन्होंने अपनी बात रक्खी उसका जवाब गौतम नवलखा के लेख में नहीं मिलता, केवल एक बात अवश्य मेरा ध्यान आकृष्ट करती है | वह है उर्दू के सांस्कृतिक स्वरूप के विषय में, मैं भी यह बात सही मानता हूँ कि उर्दू की भारतीयता पर संदेह बेबुनियाद है | हाँ उर्दू का इस्तेमाल जब हिंदी को आशक्त बनाने और अंग्रेजी को बरकरार रखने के लिए किया जाता है और जैसा कि सरीहन हो रहा है, तो उसका विरोध करना हर जागरूक व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है क्योंकि वह गुलामी की ज़हनियत से उपजा हुआ लगता है |

निश्चय ही स्वातंत्र्य संग्राम में उर्दू शायरी और अन्य विधाओं का असाधारण योगदान रहा है | अंग्रेजों के विरुद्ध जो मुहिम जनता ने चलायी उसमें हिंदी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं की तरह उर्दू का भी अपना विशेष योगदान रहा है | यदि उर्दू केवल हिंदी की शैली मानी जाती तो आठवीं सूची में उसे हिंदी से अलग स्थान क्यों मिलता | वस्तुतः एक समृद्ध आधुनिक साहित्यिक भाषा के रूप में उर्दू का महत्व निर्विवाद है | फ़िराक साहब के सम्मान-समारोह में अध्यक्षता करने के बाद नामवरजी भी कैसे कहेंगे कि उर्दू की अहमियत कम है या इसमें प्रगतिशीलता नहीं है | इस जगह मैं पाकिस्तान के उर्दू साहित्य का जिक्र करना जरूरी समझता हूँ क्योंकि का सही परिप्रेक्ष्य उससे पूरी तरह उजागर होता है |

जयपुर के डॉ. फजले इमाम द्वारा लिखी गयी पुस्तक मेरे सामने है | पहले वे 1986 में राजस्थान के उर्दू-विभाग में प्राध्यापक थे परंतु अब इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उर्दू-विभाग में रीडर हो गये हैं | उनकी किताब ने एक नया नजरिया सबके आगे रक्खा है और यह उर्दू भाषा को ‘उर्दू-जेहाद’ से भिन्न रूप में देखने की प्रेरणा देता है | उनका पहला ही वाक्य है—

“देश का विभाजन और पाकिस्तान का स्थापन इतिहास की एक बड़ी भूल थी |”

मुसलिम लीग के 23 मार्च,1940 के लाहौर में पारित प्रस्ताव में पाकिस्तान के राष्ट्रपिता मोहम्मद अली जिन्ना ने दो राष्ट्रों के सिद्धांत को सर्वोपरि माना उसके अनुसार “ मुसलमानों को कोई भी संवैधानिक योजना तब तक स्वीकार नहीं होगी जब तक वह निम्नलिखित सिद्धांतों पर नहीं बनायी जायेगी | एक बात भौगोलिक दृष्टि पर केंद्रित थी दूसरी मुसलमानों के बहुमत पर आधारित | डॉ. फजले इमाम का कहना है कि “ उपरोक्त प्रस्तावों से तो यही परिलक्षित होता है कि दो राष्ट्रों के सिद्धांत ने ही देश का विभाजन किया | किंतु वास्तविकता यह नहीं है | बड़ी संख्या में मुसलमान पाकिस्तान नहीं गये क्योंकि वे भारतीय राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत थे | इन मुसलमानों ने पाकिस्तान न जाकर दो राष्ट्रों के सिद्धांत को अत्यंत रोचक ढ़ंग से तोड़ दिया |”

पकिस्तान वास्तव में मुस्लिम बहुल प्रांतों के पृथक रूप से समायोजन का प्रयत्न था | इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पाकिस्तान रियासतों की क्षेत्रीय स्वतंत्रता और स्वामित्व के आधार पर स्थापित हुआ था यद्यपि इसकी स्थापना ले लिए धर्म का दुर्भावनापूर्ण प्रयोग किया गया था | पाकिस्तान में क्षेत्रीय तथा आंतरिक स्वतंत्रता का संघर्ष आज भी जारी है | परिणामस्वरूप बंगला देश, पाकिस्तान से पृथक होकर नया राष्ट्र बन गया |

साहित्य सामाजिक राजनैतिक संप्रेषण का एक सशक्त माध्यम है अतः पाकिस्तान के “प्रतिरोधी उर्दू साहित्य” में इसकी झलकियाँ बड़ी सरलता से दिखायी देती है |

मैं उनके द्वारा प्रस्तुत गज़लों से दो शेर यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ जिनमें यह भावना सर्वथा स्पष्ट हो जाती है पाकिस्तान का मुसलमान अंततः इंसान ही है जिसे हमारी सहानुभूति की अपेक्षा है |

ये मुन्सिफ भी तो कैदी हैं, हमें इंसाफ क्या देंगे |

लिखा है इनके चेहरे पर, हमें ये फैसला देंगे |

सूलियों से भी तो पैमाइशे क़द होती है,

जुल्म सहने से भी ज़ालिम की मदद होती है |

जिस तरह डॉ. फजले इमाम उर्दू का पक्ष लेते हुए भी उर्दू जेहादियों में शामिल नहीं किये जा सकते उसी तरह उर्दू के पक्षधर और जिंदगी भर हिंदी की ऐसी-तैसी करने वाले फ़िराक साहब भी उसमें सम्मिलित नहीं किये जा सकते | उर्दू के बारे में जो कुछ उन्होंने कहा है वह नज़र अन्दाज किया जा सकता है | उनका कहना था कि—

“ पूरा यूनानी साहित्य और दर्शन, अरबी और फारसी से होता हुआ उर्दू तक पहुँच चुका है और शायद आपको ये नहीं मालूम कि हिंदी का सबसे खूबसूरत रूप उर्दू है | (श्री रमेश द्विवेदी द्वारा हिंदी में लिखित जीवनी से जो मुद्रणाधीन है, पृ.-70 से ) फ़िराक का सोचना था कि हिंदी शब्द-प्रधान है जब कि उर्दू वाक्य प्रधान है | जवाब कोई भी हो वो एक देश और एक कौम की ज़िंदगी, उसकी लताफतें-तहजीब और संस्कृति की तर्जुमानी करती है | जिन लोगों के दिमाग और जहन की खूबसूरती ताजमहल के सौंदर्य और सौंदर्य-चेतना के रूप में अभिव्यक्त हुई वही सौंदर्य-चेतना और बाँकपन एक जबान के रूप में ढल गया जिसे हम उर्दू कहते हैं | उर्दू ताजमहल से ज्यादा खूबसूरत है | यह भाषा का ताजमहल पत्थरों के ताजमहल से कहीं ज्यादा सूक्ष्म और सुंदर है |”

फिराक गोरखपुरी पर राष्ट्रीय परिसंवाद (प्रगतिशील लेखक आंदोलन के स्वर्णजयंती के अवसर पर आयोजित हुआ|) के अध्यक्ष बनाये गये डॉ. नामवर सिंह, सवाल यह उठता है कि क्या नामवर भाई उर्दू के विषय में अपने सोच को फिराक साहबकी जहनियत से देख सकेंगे ?

मैं मानता हूँ कि उर्दू को द्वितीय भाषा बनाने का अंदोलन उर्दू-जेहादियों द्वारा चलाया गया है जिसके पीछे देश को फिर से बाँटने की नीयत जाहिर होती है | एक तरह से वे हिंदी की पीठ में छूरा भोंकने जैसा लगता है | हिंदी को कमजोर करके उर्दू-हिमायती अंग्रेजी को ही राजभाषा बनाये रखने का कुचक्र चला रहे हैं, ऐसा कहना भी गलत नहीं है, परंतु हम उसके आगे यह भी सोचना अपना कर्तव्य समझते हैं कि हिंदी-उर्दू के बीच ऐसी खाई उत्पन्न न हो जाय कि साहित्यिक समवेदना, सौंदर्य-बोध की चेतना और मानवीयता की अनुभूति झूठी पड़ जाय | राजनीति का उत्तर राजनीति से दिया जाना चाहिए, प्रगतिशील आंदोलन के भीतर जो लड़ाई उर्दू के पक्षधरों द्वारा हिंदी को अपदस्थ करके, उर्दू को सबसे ऊँचा उठाने के लिए जो सामूहिक चेष्टा की जा रही है उसका जवाब वही है जो हफीज ने दिया था,

हफ़ीज़ अपनी बोली मोहब्बत की बोली,

न उर्दू, न हिन्दी, न हिन्दोस्तानी |

नामवर जी ने अपने लेख में लोक प्रचलित मुहावरे का जैसा सटीक इस्तेमाल किया है उस पर जितनी भी दाद दी जाय कम है, परंतु गहराई से देखिये तो पाइयेगा कि न हिंदी ‘बासी भात है’ और न ‘उर्दू’ खुदा का साझा | हिंदी संसर की ऐसी भाषा है जिसका भविष्य राष्ट्रीय सीमा पार करके अंतर्राष्ट्रीय क्षितिजों को छूने लगा है | अंग्रेजी रोड़ा बन सकती है, पर उसे वैसे ही अपदस्थ होना पड़ेगा जैसे अंग्रेजों को होना पड़ा | रही उर्दू की बात तो संविधान सम्मत जो अधिकार किसी भी भारतीय भाषा को मिलने चाहिए उसे भी होंगे | छीन-झपट कर अपने को आगे करने की चेष्टा कभी सफल नहीं होगी | जहाँ तक खुदा का सवाल है, उसे अरबी-फ़ारसी तो आती है पर उसके दरबार में हिंदी-उर्दू किसी को नहीं आती | अकबर इलाहाबादी ने कैसी चुटकी ली है कि सोचते ही बनता है—

बस कि था नाम ऐ आमाल मेरा हिंदी में

कोई पढ़ ही न सका, हो गयी फ़िल-फ़ौर नजात |

हिंदी में लिखा गया, कुछ भी खुदा की समझ में नहीं आया और अकबर को इसीलिए फौरन मुक्ति मिल गयी | यहाँ हिंदी का मतलब उर्दू से जुदा नहीं है |

-------------

[ “हंस” पत्रिका, सितम्बर-1987- अंक-1, वर्ष-2 दिल्ली ]